• श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः •

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः ।

भागवत-पत्रिका

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ।

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो श्रम व्यर्थ सभी केवल वंचनकर ।

वर्ष १२ | गौराब्द ४८०, मास—श्रीधर १७, वार—अनिरुद्ध बुधवार, ३२ श्रावण, सम्वत् २०२३, १७ अगस्त, १९६६ | संख्या ३

श्रीव्रजविलास-स्तवः

श्रीश्रीराधाकृष्णपादाम्बुजेभ्यो नमः

प्रतिष्ठा - रज्जुभिर्बद्धं कामाद्यैर्वर्त्मपातिभिः ।
छित्वा ताः संहरन्तस्तान्नघारेः पान्तु मां भटाः ॥१॥

दग्धं बाढ़ंकवन्यवह्निभिरलं दष्टं दुरान्व्याहिना
विद्धं मामतिपारवश्यविशिखैः क्रोधादि - सिंहैर्वृतम् ।
स्वामिन् प्रेमसुधाद्रवं करुणया द्राक् पायय श्रीहरे
येनैतानवधीर्य सन्ततमहं धीरो भवन्तं भजे ॥२॥

यन्माधुरी-दिव्य-सुधारसाब्धेः स्मृतेः कणेनाप्यतिलोलितात्मा ।
पद्मैर्व्रजस्थानखिलान् व्रजञ्च, नत्वा स्वनाथौ वत तौ विहन्ते ॥३॥

प्रादुर्भाव - सुधाद्रवेण नितरामङ्गित्वमाप्त्वा ययो-
र्गोष्ठेऽभीक्ष्णमनङ्ग एष पचितः क्रीड़ाविनोदं रसैः ।
प्रीत्योल्लासयतीह मुग्ध मिथुन श्रेणीवतंसाविमौ
गान्धर्वा - गिरिधारिणौ वत कदा द्रक्ष्यामि रागेण तौ ॥४॥

वैकुण्ठादपि सोदरात्मजवृता द्वारावती सा प्रिया
यत्र श्रीशत - निन्दि - पट्टमहिषीवृन्दैः प्रभुः खेलति ।
प्रेमक्षेत्रमसौ ततोऽपि मथुरा प्रेष्ठा हरेर्जन्मतो
यत्र श्रीव्रज एव राजतितरां तामेव नित्यं भजे ॥५॥

यत्र क्रीडति माधवः प्रियतमैः स्निग्धः सखीनां कुलै—
र्नित्यं गाढ़ रसेन रामसहितोऽप्यद्यापि गोचारणैः ।
यस्याप्यद्भुत - माधुरी रसविदां हृद्येव कापि स्फुरेत्
प्रेष्ठं तन्मथुरापुरादपि हरेर्गोष्ठं तदेवाश्रये ॥६॥

वैदग्धोत्तर - नर्म - कर्मठ - सखीवृन्दैः परीतं रसैः
प्रत्येकं तरु - कुञ्जवल्लरिगिरिद्रोणीषु रात्रिन्दिवम् ।
नाना केलिभरेण यत्र रमते तन्नव्ययूनोर्युगं
तत्पादाम्बुजगन्धबन्धुरतरं वृन्दावनं तद्भजे ॥७॥

यत्र श्रीः परितो भ्रमत्यविरतं तास्ता महासिद्धयः
स्फीताः सुष्टिरलं गवामुदयनो वासोऽपि गोष्ठौकसाम् ।
वात्सल्यात् परिपालितो विरहते कृष्णः पितृभ्यां सुखं-
स्तन्नन्दीश्वरमालयं व्रजपतेर्गोष्ठोत्तमाङ्गं भजे ॥८॥

पुत्रस्याभ्युदयार्थमादरभरैर्मिष्टान्नपानोत्करै—
र्दिव्यानाञ्च गवां मणिव्रजयुजां दानैरिह प्रत्यहम् ।
यो विप्रान् गणशः प्रतोषयति तद्भव्यस्य वार्त्तां मुहुः
स्नेहात् पृच्छति यश्च तद्गतमनास्तं गोकुलेन्द्रं भजे ॥९॥

पुत्रस्नेहभरैः सदास्नुतकुचद्वन्द्वा तदीयोच्छल—
दधर्म्मस्यापि लवस्य रक्षणविधौ स्वप्राणदेहादुदैः ।
आसक्ता क्षणमात्रमप्यकलनात् सद्यः प्रसूतेव गो—
र्व्यग्रा या विलपत्यलं बहु - भयात् सा पातु गोष्ठेश्वरी ॥१०॥

पुत्रादुच्चैरपि हलधरात् सिञ्चति स्नेहपूरै—
र्गोविन्दं याऽद्भुतरसवती प्रक्रियासु प्रवीणा ।
सख्यश्रीभिर्व्रजपुरमहाराजराज्ञीं नयैस्तद्—
गोपेन्द्रं या सुखयति भजे रोहिणीमीश्वरीं ताम् ॥११॥

उद्यच्छुभ्रांशुकोटिद्युतिनिकरतिरस्कारकार्युज्ज्वलश्री—
दुर्वारोद्दामधामप्रकररिपुघटोन्मादविध्वंसिगन्धः ।
स्नेहादप्युन्निमेषं निजमनुजमितोऽरण्यभूमौ स्ववीतं
तद्वीर्यज्ञोऽपि यो न क्षणमपनयते स्तौमि तं धेनुकारिम् ॥१२॥

(क्रमशः)

अनुवादः—

मैं काम-क्रोध आदि लुटेरोंके द्वारा प्रतिष्ठारूप रस्सीसे बँधा हुआ (विवश) पड़ा हुआ हूँ। ऐसी दशामें अघनाशन श्रीहरिकी प्राप्तिके पथ—भक्ति-मार्गके रक्षक वीरगण (श्रीस्वरूप-रूप-सनातन आदि) इस बन्धनको काट कर तथा उन लुटेरोंका ध्वंशकर मेरी रक्षा करें ॥१॥

बुढ़ापारूप दावाग्निमें जल रहा हूँ; उसमें भी अन्धेपनका कुरोग रूप दुष्ट सर्प ग्रस रहा है, पराश्रितता रूप बाण समूह चारों ओरसे मुझे बींध रहे हैं, काम-क्रोध आदि सिंहोंसे घिरा हुआ हूँ। हे स्वामिन् ! हे श्रीहरि ! आप कृपा करके स्वप्रेमामृत-द्रवकी वर्षा करके मुझे उसका पान करावें जिससे मैं इस सबकी परवाह किये बिना धीरतापूर्वक आपका भजन कर सकूँ ॥२॥

जिनकी माधुरीरूप दिव्य सुधारस - समुद्रके कणमात्रका स्मरण करके मैं अतीशय लोलायमान हो रहा हूँ, उन निजनाथ श्रीराधा-गोविन्दका—व्रजको एवं व्रजके निखिल स्थानोंको पद्योंद्वारा नमस्कार करता हुआ—सरसावलोकन करना चाहता हूँ ॥३॥

जिनके प्रादुर्भावरूप सुधाद्रवके द्वारा निरन्तर सिंचित होकर अनङ्गने मानो दिव्य अङ्ग धारण कर लिया है तथा क्रीड़ा विनोद रूप रसोंके द्वारा जिनको प्रीतिके साथ उल्लसित कर रहा है, उन मुग्ध मिथुन श्रेणीके अवतंस श्रीश्रीगान्धर्वा-गिरिधारीका मैं कब अनुरागके साथ दर्शन करूँगा ॥४॥

वैकुण्ठ–श्रीलक्ष्मीजी और अनन्त पार्षदोंके द्वारा परिसेवित परव्योमपतिका नित्य धाम है । परन्तु इस वैकुण्ठसे भी बढ़कर सहोदर भ्राताओं तथा पुत्रादिकोंसे परिवृत वह द्वारकापुरी परम प्रिय है, जहाँ प्रभु श्रीहरि शत-शत लक्ष्मियोंका भी अपने-अपने रूप गुण और सौभाग्यसे तिरस्कार करने वाली पटरानियोंके साथ निरन्तर क्रीड़ा करते हैं। फिर ऐसी द्वारकापुरीसे भी प्रेमकी भूमि-स्वरूप श्रीमथुरापुरी प्रभुकी जन्मभूमि होनेके कारण विशेष प्रिय है, जिसमें श्रीव्रजमण्डल विशेष रूपसे विराजमान हैं। हम उसी मथुराका नित्य भजन करते हैं ॥५॥

जहाँ श्रीबलदेवके साथ श्रीमाधव अपने प्रियतम एवं अतिशय स्निग्ध सखाओंके सहित प्रगाढ़-प्रेम पूर्वक गोचरणादिके द्वारा नित्य क्रीड़ा करते हैं; और जिसकी अद्भुत माधुरी कोई-कोई विरले रसिकोंके हृदयमें ही स्फुरित होती है, मथुरासे भी श्रेष्ठ उस हरिके गोष्ठका मैं आश्रय ग्रहण करता हूँ ॥६॥

वे नवयुगल किशोर-किशोरी जहाँ वैदग्ध्यादिक हास - परिहास आदि परिपाटीमें परमा चतुरा सखियोंके साथ प्रत्येक वृक्ष, लता, कुञ्ज और पर्वत-कन्दरामें दिवा-रात्रि नाना प्रकारकी केलि-क्रीड़ाओं में तत्पर हुए रसमय विहार करते हैं तथा उन श्रीयुगलके श्रीचरणकमलोंकी गन्धसे जो अतीव सुन्दरतर हैं, हम उस वृन्दावनका भजन करते हैं ॥७॥

जहाँ श्रीलक्ष्मीजी सदा-सर्वदा चारों ओर-सर्वत्र ही घुमती-फिरती रहती हैं, जहाँ सम्पूर्ण महासिद्धियाँ नित्य विद्यमान रहती हैं, जहाँ गौ-सेवाकी सृष्टि है तथा जो व्रजवासियोंका नित्य निवासस्थान है और जहाँ श्रीकृष्ण माता-पिताके द्वारा वात्सल्य - सुखसे परिपालित होकर नित्य विहार करते हैं, व्रजराज श्रीनन्द महाराजके गोष्ठमें श्रेष्ठ उस नन्दीश्वर-गृहका हम भजन करते हैं ॥८॥

जो अपने पुत्र श्रीकृष्णके कल्याणके लिये प्रति दिन ब्राह्मणोंको आदर पूर्वक नानाविधि प्रचुर मिष्टान्न, पेय पदार्थ तथा मणियोंसे भूषित दिव्य गौवें दान देकर उनको प्रसन्न करते हैं, तथा पुत्र स्नेहसे भरकर उन ब्राह्मणोंसे पुनः पुनः पुत्रके कल्याणकी ही बातें पूछते रहते हैं, उन कृष्णगत प्राण गोकुलेन्द्र श्रीनन्द महाराजका हम भजन करते हैं ॥९॥

अत्यधिक पुत्रस्नेहके कारण जिनके दोनों स्तनों से निरन्तर दुध झरता रहता है, श्रीकृष्णके अङ्गों से तनिक भी पसीना निकलते देखकर (कहीं कृष्ण परिश्रम आदिके कारण क्लान्त तो नहीं हो गये हैं) उसके निवारणके लिये जो अपने करोड़ों-करोड़ों प्राणों और शारीरोंको न्योछवर करनेके लिये निरन्तर व्यग्र हो उठती हैं, जो श्रीकृष्णको क्षणभर भी न देखने पर नयी ब्यायी गौकी भाँति उत्कंठित हो जाती है तथा नाना प्रकारके भयकी आशंकासे विलाप करने लगती हैं, वे गोष्ठेश्वरी श्रीयशोदाजी मेरी रक्षा करें ॥१०॥

जो अपनी स्नेहधारा द्वारा निजपुत्र हलधरकी अपेक्षा श्रीगोविन्दका ही अधिक सिंचन करती हैं, जो अद्भुत रन्धन परिपाटीमें परम प्रवीण हैं और जो सख्यभाव रूप शोभाके द्वारा व्रजराजकी रानी श्रीयशोदा देवीको तथा नीतिके द्वारा श्रीव्रज-राजको सुख प्रदान करती हैं, उन ईश्वरी रोहिणी माताका हम भजन करते हैं ॥११॥

जो उदय हो रहे करोड़ों शुभ्रांशु चन्द्रमाकी कान्तिसमूहको तिरस्कारकारी अत्युज्ज्वल सौन्दर्यसे मण्डित हैं, जो अनायास ही—हेलासे ही अत्यन्त घोर पराक्रमशाली शत्रुओंके उन्मादको विध्वंस करनेवाले हैं, तथा अपने अनुज श्रीकृष्णका पराक्रम जानते हुए भी जो अत्यन्त स्नेहके कारण अरण्य-भूमिमें निमेषकालके लिये भी उनका परित्याग नहीं करते हैं, उन धेनुकासुरको मारनेवाले श्रीबलदेव की मैं स्तुति करता हूँ ॥१२॥

(क्रमशः)

इहलोक

इस विश्वमें स्थूल और सूक्ष्म आकारवाली वस्तुओंके द्रष्टा और ज्ञाताके रूपमें विभिन्न प्राणी विचरण करते हैं। प्रत्येक प्राणी पाँच ज्ञानेन्द्रिय और मनसे युक्त होते हैं। इन इन्द्रियोंकी सहायता से जो कुछ उपलब्ध होता है, उसे इहलोक कहते हैं। जीवगण इन्द्रियोंकी सहायतासे जो ज्ञान लाभ करते हैं, उसे इन्द्रियज-ज्ञान या अक्षज-ज्ञान कहते हैं। इन्द्रियोंके नष्ट होने पर अथवा उनके अभावमें या उनके विकृत होने पर परिदृश्यमान जगतका अनेकांश परिलक्षित नहीं होता। इसके विपरीत, इन्द्रियोंको अधिकाधिक रूपमें प्रयोग कर अनुमान आदि की सहायतासे दृश्य वस्तुके विषयमें अधिकाधिक जानकारी प्राप्त की जा सकती है। ये अक्षज ज्ञानेन्द्रियाँ चार प्रकारके दोषोंसे दूषित होने योग्य होती हैं। शास्त्रमें इन चारों दोषोंको भ्रम प्रमाद, विप्रलिप्सा और कारणापाटव कहा गया है। जगत के प्राणीसमूह इन चारों प्रकारके दोषोंसे युक्त होकर ही दृश्य जगतको देखते जानते या भोगते हैं।

जो लोग भोगपरायण होते हैं,वे ही इन्द्रियोंकी सहायतासे लौकिक या ऐहिक ज्ञानके अहंकारमें मत्त होकर अपनी अपनी इन्द्रियों द्वारा भोगोंको भोगनेमें समर्थ होते हैं। जहाँ वे इन भोगोंको भोगनेमें असमर्थ होते हैं वहाँ वे पहलेपहल बड़े-बड़े कठोर व्रत या तपका अनुष्ठान करते हैं, उसमें भी असफल होने पर वे दृश्य जगत्के प्रति वैराग्यावलम्बन करनेका भाव प्रदर्शित करते हैं। कुछ कर्मवीरोंकी ऐसी धारणा होती है कि जगत दुःखमय है; कुछ ऐसा भी मानते हैं कि सत्कर्मोंसे विषय-भोगकी प्राप्ति हो सकती है।

वास्तवमें इहलोककी इन्द्रियाँ नश्वर हैं; अतः इन्द्रियों द्वारा भोगे जानेवाले विषय भी चिरस्थायी नहीं हैं। इसलिये इसलोकमें विचरण करनेवाले प्राणीसमूह विषय सुखकी प्राप्तिके लिये अनेक प्रयत्न करते हैं—इन्द्रियचालना करते हैं; फिर भी सर्वत्र ही वे निराश ही होते हैं। वैष्णव कवि ज्ञानदास कहते हैं—

"सुखेर लागिया ए घर बाँधिनु,
अनले पुड़िये गेल।
अमिय सायरे सिनान करिते,
सकलि गरल भेल॥
शीतल बलिया ओचाँद सेविनु,
रविर किरण देखि॥"

—सुखके लिये बड़ा ही सुन्दर महल बनाया; परन्तु वह बनते-न-बनते ही आगमें जलकर भस्मसात् हो गया। सुखके लिये अमृतके सागरमें स्नान करने गयी; परन्तु हाय रे विधि ! अमृत-सागर ही मेरे लिये विषका सागर हो गया। शीतलताके लिये चाँदको शीतल समझकर उसकी ओर बढ़ी, परन्तु हाय रे मेरा भाग्य ! उस चन्द्रमें भी सूर्यकी प्रचण्ड किरणें दिखलाई पड़ीं। कहाँ जाऊँ, क्या करूँ ?

इहलोकमें कर्मवीरगण सदा-सर्वदा एकको छोड़कर दूसरे आकाश-कुसुमके पीछे दौड़ते-दौड़ते हारजाते हैं और अन्तमें कुछ भी हाथ न पड़ने पर कर्म-फल-भोग-प्रवृत्तिसे विरक्त हो पड़ते हैं। विज्ञान, शिल्प, ज्योतिष, चिकित्सा और रसायन-शास्त्र, धर्म-अर्थ-काम, प्रत्नतत्त्व, उद्भिद् और प्राणि विद्या, गृह्यसूत्र, समाज-नीति और शुक्र-नीति आदि नाना-प्रकारके 'दिल्लीका लड्डू' हमें ऐहिक सुखके पीछे-पीछे नासिका-विद्ध बैलकी भाँति दौड़ाते रहते हैं। परन्तु, "दिल्लीका लड्डू—जो खाया वह भी पछताया, जो नहीं खाया वह भी पछताया" की भाँति जिसने सांसारिक विषय-भोग प्राप्त कर लिया है,वह भी पछता रहा है,और जिसने प्राप्त नहीं किया है, वह भी पछता रहा है। क्योंकि वह सुख-सुख नहीं, दुखका ही विकार है, या सुखकी छाया है। हम एक क्षणके लिये भी ऐसा विचार नहीं करते कि हम लोग इन विषयोंको प्राप्त करने पर भी कितने दिनों तक उनका भोग कर सकते हैं? पद-पद पर बाँधाए हैं। स्त्री-वियोग, पुत्रवियोग शारीरिक अस्वस्थता, मरण-भय, चीरफाड़का क्लेश, बन्धु-विच्छेद, वाद-विवाद, नैराश्य, इन्द्रियों की अयोग्यता, बुढ़ापा, विषयोंका दूसरों द्वारा अपहरण और दूसरोंके द्वारा ठगीका शिकार होना —इत्यादि नाना प्रकारकी बाधाएँ हैं। इस लोकमें आगमापायीका अधिकार और अनधिकार-विचार हमें दुःख-समुद्रमें फेंक देता है।

इस लोकके नश्वरता-धर्म, अविच्छेद-धर्म और अपूर्णधर्म आदि हमें अपने खेलकी पुतली बनाकर गेंदकी भाँति यहाँसे वहाँ और वहाँसे कहीं और दूसरी जगह फेंक रहे हैं—हमें कभी भी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहने देते। इसलिये इस लोकमें हमारी सारी आशा-भरोषाओंपर पानी फिर जाता है। हम जिन इन्द्रियोंको इहलोकमें भोगायतन समझते हैं, वे हमारी स्थायी सम्पत्ति नहीं हैं। हम जिन स्थूल पदार्थोंका बड़े कष्टसे संग्रह कर अपनेको उनका स्वामी समझते हैं, वे हमारी इच्छा के विपरीत भी दूसरी जगह चले जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं। इसलिये भोगोंके विषयों तथा भोगों को जिनके द्वारा भोगा जाता है, उन इन्द्रियों पर हम कदापि भरोसा नहीं कर सकते।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'इहलोकमें रहते समय हमलोग इन्द्रिय-सुखभोगके जितने दूर तक अधिकारी हैं, उतने तक तो भोग ही लेंगे। परन्तु संसारसे विरक्त होने पर तो उन उन सुखोंसे पूर्णतया वंचित ही रह जाते। इसलिये इन्द्रिय परिलाचनाको क्षणिक जान करके भी उनके द्वारा सुखान्वेषण ही हमारे लिये श्रेयस्कर है।' इसी आशासे हम पुत्र-कन्याओंकी उन्नतिको लक्ष्यकर सुशीक्षा प्रदान करते हैं। जब जैसी आवश्यकता होती है, वैसा ही करनेके लिये व्यग्र हो उठते हैं तथा जब किसी प्रकारके क्लेश उपस्थित होते हैं तब उनका प्रतिरोध करनेके लिये नाना प्रकारसे प्रयत्न करते हैं। कमवीर लोग इस लोकमें इसीको अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

हम यह भी समझते हैं कि इस लोकके पश्चात् इन्द्रियोंके अभावमें और हमारे प्राणोंके अभावमें हम लोग इस प्रकारकी धारणाएँ नहीं कर सकेंगे। दूसरे लोकमें स्थानान्तरित होने पर ऐसी इन्द्रियोंके

अभावमें दृश्य जगत्में परिवर्तन हो जायगा। इहलोकमें बैठकर कल्पना द्वारा परलोकके दृश्य-जगत्को तथा वहाँके अधिष्ठानके विषयमें हम धारणा नहीं कर सकते। यदि ऐहिक विचारोंके आधार पर हम लोग परलोकके विषयों या विचारों की कल्पना करें तो वे कल्पनाएँ वास्तव सत्य नहीं भी हो सकती हैं। गीताके—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" के अनुसार स्वर्ग—सूक्ष्म इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने पर भी नित्य नहीं—नश्वर ही है—यह बात स्पष्ट है।

कुछ लोग स्वर्गीय सुखकी नश्वरता एवं हेयता उपलब्धि कर निर्भेद ब्रह्मानुसंधानमें तत्पर होते हैं। यहाँ प्रश्न होता है—स्वयं निर्भेद ब्रह्म ही इस लोकमें उपाधि ग्रहणकर विभिन्न जीवोंके रूपमें क्यों व्यर्थ ही कष्ट भोग रहे हैं? और यदि इस अवस्थामें वे कष्ट नहीं भोग रहे हैं तो फिर बन्धन-मुक्ति या अविद्या नाशकी आवश्यकता ही क्यों है? तथा यह अविद्या किसको व्याप रही है? क्या ब्रह्मको उपाधि या अविद्या व्याप सकती है? ऐहिक बुद्धि द्वारा या तर्क और युक्ति द्वारा इन प्रश्नोंकी सुमीमांसा होना असंभव है।

इहलोकमें प्रत्यक्ष या स्थूल-इन्द्रियज्ञान प्रबल होते हैं, स्वर्लोकमें परोक्ष या सूक्ष्म भोग प्रबल होते हैं और वह भी केवल बालकोंका अनुशासन मात्र है। ऐसा जान कर अपरोक्ष परलोकवादी प्राकृत और अप्राकृत दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंका विनाश कर ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताके ऐक्यकी आकांक्षा करते हैं। उनकी वैसी ऐहिक ऐक्यकी आकांक्षा परलोक सम्बन्धीय ज्ञानपथका कुछ निर्देशक होगी—इसकी भी कोई संभावना नहीं। जहाँ ऐहिक ज्ञान की प्रबलतासे विचित्रता सम्पूर्णरूपसे ही नष्ट हो गयी, वहाँ 'चिन्मात्र' शब्द अचित्को दूर करने वाला होने पर भी केवल 'चिन्मात्र' शब्दसे परलोककी पूर्ण धारणा नहीं प्राप्त हो सकती। इससे केवल चित्-अचित् समन्वयकी कोरी कल्पना तक ही हो सकेगी।

—जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील सरस्वती ठाकुर

प्रश्नोत्तर

[गताङ्क से आगे]

७. बद्ध जीवों (मनुष्यों) की कौन-कौन सी अवस्थाएँ हैं ?

"नरदेह प्राप्त बद्धजीवोंकी प्रधानतः तीन प्रकारकी अवस्थाएँ हैं—मुकुलित - चेतन, विकसित - चेतन, और पूर्ण विकसित चेतनावस्था।"

—जै. ध. १६ वाँ अ.

८. मुकुलित-चेतन, विकसित-चेतन, और पूर्ण विकसित-चेतन किन्हें कहते हैं ?

"नीतिशून्य और निरीश्वर नैतिक—ये दोनों प्रकारके मनुष्य ही मुकुलित-चेतन हैं, सेश्वर-नैतिक और साधन भक्त मनुष्य ही विकसित चेतन हैं और भाव-भक्त मनुष्य ही पूर्ण विकसित चेतन हैं।"

—जै. ध. १६ वाँ अ.

९. मायाके त्रिगुण बन्धनमें कौन कौन-से जीव किस-किस प्रकारसे आबद्ध हैं ?

"सात्त्विक-अहङ्कार युक्त सभी जीव उच्चलोक-वासी देवता हैं, वे सात्त्विक या स्वर्णनिगड़ द्वारा आबद्ध हैं। राजस प्रकृतियुक्त जीवसमूह देवता और मनुष्य भावमिश्र हैं; वे राजसिक या रौप्य निगड़ द्वारा आबद्ध हैं। तामस प्रकृतियुक्त सभी जीव पञ्च-मकारीय जड़ानन्दमें मत्त हैं; अतएव वे तामसिक या लौह-निगड़ द्वारा आबद्ध हैं।"

—जै. ध. १६ वाँ अ.

१०. जीवकी चिन्मय सत्तामें क्या जन्म-मृत्यु वर्त्तमान है ?

"जन्म ही रजः है; परन्तु जीवकी अनादि चिन्मय सत्तामें जन्म धर्मरूप रजः नहीं है और विनाश धर्मरूप तमः भी नहीं है, क्योंकि वह नित्य-वर्त्तमान है।"

—नाम-माहात्म्य-सूचना ह. चि.

११. ब्रह्म-रुद्रादि देवताओंका क्या स्वरूप है ?

"शिव और ब्रह्माका मातृगर्भमें जन्म नहीं है। साधारण जीवोंमें बिन्दु बिन्दु मात्रामें पचास गुण वर्त्तमान हैं। ब्रह्मा और शिव साधारण जीव न होने पर भी वे विभिन्नांश हैं। ये पचास गुण उनमें अधिक मात्रामें वर्त्तमान हैं। और उनके अलावा और भी पाँच गुण अंश मात्रामें वर्त्तमान हैं। अतएव उन्हें प्रधान देवताओंमें लिया गया है। गणेश और सूर्यकी भी वैसे ही ब्रह्मा आदि की तरह उपासना की जाती है। अन्य सभी देवता ही जीव कोटिमें गण्य हैं। सभी देवता ही कृष्णके विभिन्नांश रूप जीव हैं। उनकी गृहिणियाँ भी चिच्छक्तिके विभिन्नांश हैं। ब्रह्माने कृष्ण-तुष्टिके लिये कृष्णाविर्भावके पूर्व ही जन्म लेनेकी आज्ञा उन्हें दी थी।"

—जै. ध. ३२ वाँ अ.

१२. क्या चिन्मय आत्मामें बद्धदशा-जनित क्लेश है ?

"यह जड़ देह ही जीवका कारागार है। आत्मा कदापि संकीर्ण पदार्थ नहीं है। किन्तु जड़ देहके सम्बन्धके कारण प्रकृतिगत जड़ता और दुःखका भोग करता है।"

१३. शम्भु क्या-क्या कार्य करते हैं ?

"वैष्णवानां यथा शम्भु" इत्यादि भागवत-वचनका यही तात्पर्य है कि वे शम्भु (शिव) अपनी कालशक्ति द्वारा गोविन्दकी इच्छानुसार दुर्गादेवीके साथ युक्त रहकर कार्य करते हैं। वे तन्त्रादि बहुविध शास्त्रोंमें जीवोंके अधिकार भेदसे भक्ति लाभके सोपान स्वरूप धर्मकी शिक्षा देते हैं। गोविन्दकी इच्छानुसार मायावाद और कल्पित आगम प्रचार पूर्वक शुद्ध भक्तिका संरक्षण और पालन करते है। शम्भुमें जीवोंमें वर्त्तमान पचास गुण अधिकमात्रामें और जीवोंद्वारा अप्राप्त और भी पांच महागुण आंशिकरूपमें हैं। इसलिए उन्हें 'जीव' नहीं कहा जा सकता; वे 'ईश्वर' हैं, तथापि विभिन्नांशगत हैं।

—ब्र. स. ५।४५

१४. क्या शम्भु कृष्णसे स्वतन्त्र तत्त्व हैं ? सदाशिव और रुद्र-तत्त्वमें क्या पार्थक्य है ?

"शम्भु कृष्णसे पृथक् एक अन्य ईश्वर नहीं हैं। जिनकी वैसी भेद-बुद्धि हैं, वे भगवानके निकट अपराधी हैं। शम्भुकी ईश्वरता गोविन्दकी ईश्वरता के अधीन है। इसलिये वस्तुतः शम्भु और कृष्ण अभेद तत्त्व हैं। अभेदत्वका लक्षण यही है कि दूध जिस प्रकार विकार-विशेष-योगसे दधित्वको प्राप्त होता है, उसी प्रकार विकार विशेष-योगसे ईश्वर पृथक्-स्वरूप प्राप्त होकर भी 'परतन्त्र' हैं, उस स्वरूपकी स्वतन्त्रता नहीं है। मायाका तमोगुण, तटस्थ-शक्तिका स्वल्पता-गुण और चिच्छक्तिका स्वल्प ह्लादिनी मिश्रित सम्विद्गुण मिश्रित होकर एक विकार-विशेषकी उत्पत्ति होती है। वह विकार-विशेषयुक्त स्वांश-भावाभास स्वरूप ही ईश्वर ज्योतिर्मय शम्भुलिङ्गरूप 'सदाशिव' हैं। उन्हींसे रुद्रदेव प्रकट होते हैं।"

—ब्र. स. ५।४५

१५. ब्रह्मा और शम्भुको आधिकारिक देवता क्यों कहा गया है ?

"प्रजापति ब्रह्मा और शम्भु महाविष्णुके विभिन्नांश हैं, अतएव वे आधिकारिक देवता विशेष हैं।"

—ब्र. स. ५।१४

१६. शिवलिङ्गका क्या तात्पर्य है ?

"निमित्त ही माया अर्थात् योनि है और उपादान ही शम्भु अर्थात् लिङ्ग हैं।"

ब्र. स. ५।८

१७. रुद्र (भव या भैरव) और रुद्राणी (भवानी या भैरवी) ये दोनों क्या तत्त्व हैं ?

"तत्प्रतिफलित (महाविष्णुकी प्रतिफलित) ज्योतिका आभास रूप ही शम्भु-लिङ्ग है। वही रमा शक्तिकी छायारूपा मायाके प्रसव - यन्त्रसे संयुक्त होता है। तब महत्तत्त्वरूप कामबीजका आभास उपस्थित होकर सृष्टि कार्यमें प्रवृत्त होता है।"

—ब्र. स. ५।८

१८. ब्रह्मा और रुद्र अपरा शक्तिके साथ क्यों विलास करते हैं।

"विभिन्नांशगत प्रजापति और शम्भु—दोनों ही भगवत्तत्त्वसे पृथक् अभिमान होने के कारण छाया-विशेष सावित्री और उमारूपा अपनी-अपनी अपरा शक्तिके साथ विलास करते हैं।"

—ब्र. स. ५।१७

१९. ब्रह्मा और रुद्र परस्पर क्या तत्त्व हैं ?

"ब्रह्मा-रजोगुणोदित स्वांश-प्रभाविशिष्ट विभिन्नांश हैं। और शम्भु-मायाके तमोगुणोदित स्वांश-प्रभावशिष्ट विभिन्नांश हैं।

—ब्र. स. ५।४६

२०. शम्भु क्या तत्त्व हैं ? शिव-शक्तिका मिलन-तात्पर्य क्या है ?

"मूलतत्त्वमें भगवत्तत्त्व पृथकभिमान - शून्य सर्वसत्त्वमय हैं। मायिक जगतमें जिस विभिन्नाभिमानरूप लिङ्ग अर्थात् चिह्नित पृथक् सत्ताका उदय होता है, वह उस शुद्ध सत्ताका ही मायिक प्रतिफलन है और वही आदि शम्भु रूपसे रमादेवी की विकार-रूप मायिक योन्यात्मक आधार तत्त्वमें मिलित है। उस समय शम्भु-केवल द्रव्य-व्यूहात्मक उपादान-तत्त्व मात्र हैं। जिस समय तत्त्व विकास क्रमसे प्रत्येक ब्रह्माण्ड प्रकाशित होता है, तब भ्रूदेश जात शम्भुतत्त्वमें विकासरूप रुद्रतत्त्व उदित होता है। तथापि समस्त अवस्थामें ही शम्भुतत्त्व अहङ्कारात्मक है।"

—ब्र. स. ५।१६

२१. ब्रह्मा क्या परमेश्वर तत्त्व हैं ? शम्भु क्या तत्त्व हैं ?

"ब्रह्मा-साधारण जीव अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, किन्तु साक्षात् ईश्वर नहीं हैं। ** शम्भुमें ब्रह्माकी अपेक्षा ईश्वरता अधिक परिमाणमें है।"

—ब्र. स. ५।४९

२२. गणेशका क्या स्वरूप है ?

"गणेश-एक शक्त्याविष्ट आधिकारिक देवता हैं। गोविन्दकी कृपासे ही उनकी समस्त महिमा है।"

ब्र. स. ५।५०

२३. सूर्य क्या स्वतन्त्र ईश्वर हैं ?

"सूर्य जड़ तेजः समष्टि एक मण्डलके अधिष्ठाता हैं; इसलिये वे एक आधिकारिक देवता हैं। गोविन्दकी आज्ञासे ही सूर्य अपना सेवा - कार्य करते हैं।"

—ब्र. स. ५।५२

२४—शिवादि आधिकारिक देवताओंसे विष्णु का क्या वैशिष्ट्य है ?

"ईश्वरके सभी विभिन्नांश स्वतः ही शुद्धसत्त्व होने पर भी अविद्या-संयोगसे मायाके रजः और और तमोधर्म मिश्र हुए हैं। शिवादि देवता जीवों से अनेकगुण श्रेष्ठ होने पर भी बद्धजीवोंके मायिक धर्माभिमानरूप अभिमान-संयोगसे रजस्तमोमिश्र होने कारण मिश्रसत्त्वमें गिने गये हैं। शुद्धसत्त्व ईश्वर अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे प्रपञ्चमें विष्णुरूपसे अवतीर्ण होकर भी सर्वदा मायाके ईश्वर हैं और माया उनकी परिचारिका है।"

—नाम महात्म्य सूचना, ह. चि.

२५. जीव जड़जगतसे उन्नत पदार्थ और उसका प्रभु कैसे हुआ ?

"जीव चित्कण है। इसलिये चिद्वस्तुका धर्म जीवमें स्वाभाविक रूपसे है। चिद्वस्तुमें स्वतन्त्रता-रूप धर्म निहित है नित्यधर्मसे वस्तुको पृथक् नहीं किया जा सकता। अतएव जीव जिस परिमाणमें अणु है, उसी परिमाणमें उसमें स्वतन्त्रतारूप धर्म अवश्य रहेगा। इसी स्वतन्त्रता धर्मके कारण जीव जड़जगतसे उन्नत पदार्थ और जड़जगतके प्रभु हुए हैं।"

—जै. ध. १६ वाँ अ.

२६. जब स्वतन्त्रता धर्म ही क्लेशजनक है, तब परमेश्वरने जीवको स्वतन्त्रता क्यों प्रदान की ?

"स्वतन्त्रता एक रत्नविशेष हैं। ** जीवको यदि स्वतन्त्रता नहीं दी जाती, तो जीव जड़वस्तुकी तरह हेय और तुच्छ होते।"

२७. जीव जो स्वतन्त्रताका अपव्यवहार करते हैं, उसके लिये क्या परमेश्वर दोषी हैं ?

"स्वाधीनताके असत्व्यहारके कारण जीवको जो कष्ट होता है, उसे ईश्वर-प्रदत्त कहा नहीं जा सकता एवं उसके लिए ईश्वरको किसी प्रकारसे दोष नहीं दिया जा सकता। विधि-लंघनके द्वारा जो क्लेश होता है, उसके लिये विधाता कदापि दोषी नहीं हैं। यदि विधाता जीवको इस अनर्थ-ग्रहणके लिये बाध्य करते, तो उनका वैषम्य दोष होता। जीव यदि कपनी स्वाधीनताके द्वारा अपने परानुरागको और भी दृढ़ करते, तो उनका उत्कर्ष होता। किन्तु स्वाधीनता न मिलनेसे उनका उत्कर्षके ऊपर कोई अधिकार नहीं होता। परमेश्वरने जीव को ऐसी अपूर्व स्वाधीनता देकर जीवके प्रति अपार करुणा प्रकाश किया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है। स्वाधीनताके असदव्यवहारके कारण जो पतन होता है, वह केवल जीवका संस्कार कर उसे उद्धार करनेके लिये हैं।"

—त. सू. २० वाँ सू.

२८. तटस्थ स्वभाव किसे कहते हैं ?

" 'तट' जलके वेगसे कटकर नदी होता है और भूमिके दृढ़ता लाभ करने पर भूमि हो पड़ता है। जीव यदि कृष्णके प्रति दृष्टि करते हैं, तो वे कृष्ण-शक्तिका बल पाते हैं, यदि मायाके प्रति दृष्टि करते हैं, तो कृष्ण-बहिर्मुख होकर माया जालमें पड़कर बद्धावस्थाको प्राप्त करते हैं। यही 'तटस्थ-स्वभाव' है।"

—जै. ध. १५ वाँ अ.

२९. जीव और परमेश्वर क्या कभी एक हो सकते हैं ?

"मायाधीश ईश्वरने माया द्वारा इस जड़ विश्वकी सृष्टि की हैं। उसी जड़विश्वमें ईश्वरसे भिन्न जीव-नामक तत्त्व माया द्वारा आबद्ध हुए हैं। माया परमेश्वरकी एक शक्ति है और मायाधीश पुरुष ही परमेश्वर हैं। ऐसे जीव किसी भी अवस्थामें ईश्वरके साथ अभेद या एक नहीं हो सकते।"

—श्रीम० शि. ६ वाँ प.

(क्रमशः)

जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनोद ठाकुर

सन्दर्भ-सार

(श्रीकृष्ण-सन्दर्भ-१०)

श्रीबलदेव-तत्त्व

स्वयं भगवान जैसे होते हैं, उनके परिकरगण भी वैसे ही होते हैं अर्थात् अंशी भगवानके साथ अंशी परिकरवर्ग तथा भगवानके आंशिक स्वरूपके साथ आंशिक परिकरवर्ग विराजमान रहते हैं। इसलिये अंशी भगवत्स्वरूपके परिकर श्रीबलराम भी स्वयंभगवान कृष्णके समप्रकाश हैं। श्रीमद्-भागवतमें इसका बड़ा ही सरस एवं हृदयग्राही वर्णन उपलब्ध होता है —

तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ
घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं
मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः॥
(श्रीमद्भा. १०।८।२२)

—अब राम और श्याम घुटनों और हाथोंके बल बकैयाँ चल-चल कर गोकुलमें खेलने लगे। दोनों अपने नन्हें-नन्हें पावोंको गोकुलकी कीचड़में घसीटते हुए चलते। उस समय उनके पाँव और कमरके घुँघरू रुनझुन बजने लगते। वह शब्द बड़ा भला मालूम पड़ता। वे दोनों स्वयं वह ध्वनि सुनकर खिल उठते। कभी-कभी वे रास्ते चलते किसी अज्ञात् व्यक्तिके पीछे हो लेते। फिर जब देखते कि यह तो कोई दूसरा है, तब झक-से रह जाते और डरकर अपनी माताओं—रोहिणी और और यशोदाजीके पास लौट आते।

जब अक्रूर राम-कृष्णको कंसकी आज्ञासे मथुरा लानेके लिये व्रजमें उपस्थितहोते हैं, उस समय वे राम-कृष्णको गोष्ठमें देखकर मुग्ध हो पड़ते हैं—

ददर्श कृष्णं रामश्च व्रजे गोदोहनं गतौ।
पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहे क्षणौ॥
(श्रीमद्भा. १०।३८।२८)

श्रीकृष्ण और बलराम दोनों भाई गाय दुहनेके स्थानमें विराजमान हैं। श्याम सुन्दर कृष्ण पीताम्बर धारण किये हैं और गौरसुन्दर बलराम नीलाम्बर। उनके नेत्र शरत्कालीन कमलके समान खिले हुए हैं।

जब ये दोनों कंसकी रंगभूमिमें उपस्थित हुए, उस समय उनके अद्भुत मनोहर सौन्दर्यको देखकर वहाँ उपस्थित सभी लोग मोहित हो गये—

तौ रेजतू रङ्गगतौ महाभुजौ
विचित्र वेषाभरणस्रगम्बरौ।
यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ
मनः क्षिपन्तौ प्रभया निरीक्षताम॥
(श्रीमद्भा. १०।४३।१९)

—श्रीकृष्ण और बलरामकी बाँहें लम्बी-लम्बी थीं। पुष्पोंके हार, वस्त्र और आभूषण आदिसे उनका वेष विचित्र हो रहा था; ऐसा जान पड़ता था, मानो उत्तम वेष धारण करके दो नट अभिनय

करनेके लिये आये हों। जिनके नेत्र एक बार उन पर पड़ जाते, बस, लग ही जाते। यही नहीं, वे अपनी कान्तिसे उनका मन भी चुरा लेते। इस प्रकार दोनों रंगभूमिमें शोभायमान हुए।

उपर्युक्त श्लोकोंमें दोनोंके खेलने और विहार आदि करनेका वर्णन समभावसे किया गया है। इसके द्वारा श्रीकृष्णके महावासुदेवत्वकी भाँति श्रीबलदेवका सकर्षणत्व भी प्रमाणित है। निम्नलिखित श्लोकमें कृष्णकी भाँति बलराममें भी भगवत्तासूचक लक्षणोंका उल्लेख मिलता है—

ध्वजवज्रांकुशाम्भोजैश्चिह्नितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम्।
शोभयन्तौ महात्मानौ सानुक्रोशस्मितेक्षणौ॥
(श्रीमद्भा.१०।३८।३०)

—उनके चरणोंमें ध्वजा, वज्र, अंकुश और कमलके चिह्न थे। जब वे चलते थे, उनसे चिह्नित होकर पृथ्वी शोभायमान हो जाती थी। उनकी मन्द-मन्द मुसकान और चितवन ऐसी थी, मानो दया बरस रही हो। वे उदारताकी तो मानो मूर्ति ही थे।

निम्नलिखित श्लोकमें धेनुकासुर बधके प्रसंगमें श्रीबलदेवके आदिकारणत्वकी झाँकी मिलती है—

नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे।
ओतप्रोतमिदं यस्मिंस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः॥
(श्रीमद्भा. १०।१५।३५)

—भगवान् बलराम स्वयं जगदीश्वर हैं। उनमें सारा संसार ठीक वैसे ही ओत-प्रोत है, जैसे सूतोंमें वस्त्र। तब भला, उनके लिये यह कौन आश्चर्यकी बात है। और भी—

सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते।
गर्भोबभुव देवक्या हर्ष शोक विवर्द्धनः॥
(श्रीमद्भा. ११।२।५)

—जिनको वैष्णवधाम 'अनन्त' कहते हैं, वे देवकीके हर्ष-शोकको बढ़ानेवाले गर्भ हुए। वे सप्तम गर्भ हुए थे, गर्भमें नहीं हुए थे। यहाँ पर सप्तमी विभक्तियुक्तपद नहीं होनेसे श्रीबलदेवजीका साक्षात् अवतारत्व सूचित हुआ है। यदि सप्तमी विभक्ति होती तो देवकीके गर्भमें जिनका आविर्भाव हुआ उनसे स्वतंत्र बलदेवजीकी सत्ताकी प्रतीति होती अर्थात् जो बलदेव हैं, वे लीलाके लिये देवकीके गर्भमें आविर्भूत हुए—ऐसा अर्थ होता। परन्तु यहाँ गर्भ-पदमें प्रथमा विभक्ति होनेके कारण ऐसा अर्थ होता है कि—'जो देवकीके सप्तम-गर्भ हैं, वे ही बलदेव हैं'। योगमायाने उस गर्भको रोहणी देवीके गर्भमें स्थापन किया था। अतएव बलदेवजी साक्षात् अवतार होनेके कारण निम्नलिखित श्लोक की व्याख्या इस प्रकार होनी चाहिए—

वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया॥
(श्रीमद्भा. १०।१।२४)

श्रीवसुदेव-नन्दन वासुदेवकी कला—प्रथम अंश श्रीसङ्कर्षण हैं। उनका सङ्कर्षणत्व निरपेक्ष है। अवतार होनेके कारण वे सङ्कर्षण नहीं है, इसलिये वे स्वराट् कहे गये हैं। जो अपने ही प्रभावसे विराजित हैं, अथवा जो स्वयंप्रकाश हैं—वे स्वराट् हैं। इसलिये वे स्वराट् होनेसे अनन्त—देश-काल

आदिकी सीमाओंसे रहित हैं । पूर्ण स्वरूपका वास्तविकरूपमें आकर्षण करना असंभव है । इस लिये योगमाया द्वारा गर्भके समयमें इनको आकर्षण किया गया । अपरिच्छिन्न वस्तुका आकर्षण सम्भव नहीं है । स्वरूपतः अपरिच्छिन्न होने पर भी अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे परिच्छिन्न गर्भमें आविर्भूत होनेके कारण परिच्छिन्नकी भाँति प्रतीत होते हैं। गर्भमें उनके स्थित होनेके समय योगमायाने उनका जो आकर्षण किया था, वह उनकी इच्छासे ही किया था । इसको पुष्टि ब्रह्माजीके देवताओंके प्रति कहे गये वचनोंसे ही होती है—'जिसके द्वारा जगत् मोहित है, उन प्रभु श्रीकृष्णकी आज्ञासे ही विष्णु-माया देवकीका गर्भ आकर्षण करने तथा श्रीयशोदा जीको मोहित् करनेके लिये आविर्भूत होंगी ।'

श्रीदेवकीका गर्भाकर्षण तथा यशोदामोहन—ये दोनों योगमायाके कार्य हैं; महामायाके लिये ये कार्य असम्भव हैं । तब एक बात है कि योगमाया कभी-कभी अपनी छायास्वरूपा महामायाको किसी किसी कार्यमें लगा देती हैं । सहस्रवदन स्वराट्-शब्दकी व्याख्या—श्रीकृष्णका गुणगान करनेके कारण जो 'शेष' नामक सहस्रवदन हैं, वे ही सङ्कर्षण । वे देव नानारूपमें क्रीड़ाशील है । श्रीयमुना देवीकी उक्ति द्वारा भलीभाँति स्पष्ट है—

राम राम महाबाहो न जाने तव विक्रमम् ।
यस्यैकांशेन विधृता जगती - जगतः पते ॥
(श्रीमद्भा. १०।६५।२८)

हे राम ! हे राम ! हे महाबाहो । हे जगत्पते ! हे महाभुज ! मैं आपका विक्रम नहीं जानती। आपके एकांश द्वारा ही यह जगत् धारण किया गया है । यहाँ श्रीधर स्वामीने 'यस्य'पदके साथ अर्थकी संगति रख कर 'एकांश' शब्दका अर्थ 'शेष' नामक अंश किया है । इसलिये बलराम ही अपने एक अंशसे अर्थात् शेषरूप अंशद्वारा जगत्को धारण करते हैं ।

श्रीबलदेव—शेषके अवतार नहीं है, बल्कि वे स्वयं शेष देवके भी मूल अंशी है और शेष उनके अंश हैं, यह बात इन्द्रकी उक्तिसे सिद्ध है—

लक्ष्मणोत्तिष्ठ शीघ्रं त्वमारोहस्व स्वकं पदम् ।
देवकार्यं कृतं वीर त्वया रिपुनिषूदन ॥
वैष्णवं परमं स्थानं प्राप्नुहि स्वंनं सनातनम् ।
भवन्मूर्तिः समायाता शेषोऽपि विलसत्फणः ॥
(स्कन्दपुराण अयोध्या माहात्म्य)

देवराज इन्द्र लक्ष्मणसे बोले—'हे लक्ष्मण ! आप उठें और अपने धामको गमन करें । हे वीर ! हे शत्रुसूदन् ! आपने देवताओंका कार्य सम्पन्न कर दिया है । आप अपने विष्णु-सम्बन्धीय नित्य सर्वोत्तम धामको प्राप्त होवें । अनन्त फणोंसे शोभायमान श्रीशेषदेव आपकी ही एक मूर्त्ति विशेष हैं, वे आपमें प्रविष्ट हैं ।

ऐसी प्रार्थना करके देवराजने भूमण्डलको धारण करनेवाले शेष देवको पातालमें भेजकर श्रीलक्ष्मणको यानमें चढ़ाकर स्वर्गके लिये प्रस्थान किया । इससे यह ज्ञात होता है कि श्रीबलदेवजीके अंश लक्ष्मणजी भी भूमण्डल धारण करनेवाले शेषजीसे श्रेष्ठस्वरूप हैं ।

नारायण धर्ममें श्रीबलदेवकी शेषसे श्रेष्ठता और अधिक शक्तिमत्ताका वर्णन मिलता है—

'यज्ञश्च लोकादवतात् कृतान्तात्
बलोगणात् क्रोधवशादहीन्द्रः ।'

अर्थात् यज्ञमूर्त्ति भगवान लोकसे, बलराम कृतान्तसे तथा सर्पराज शेषदेव सर्पोंसे रक्षा करें। बलदेव कृतान्त अर्थात् यम या सर्व प्रकारकी मृत्युसे रक्षा कर सकते हैं, परन्तु शेष केवल मात्र सर्पसे ही रक्षा कर सकते हैं।

श्रीबलदेव ही मूल संकर्षण हैं—यह श्रीवसुदेव जीकी उक्तिसे सुस्पष्ट है—

युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरौ ।
भू-भार-क्षत्र-क्षपणे अवतीर्णौ तथात्थ ह ॥
(भा. १०।८५।१८)

—तुम लोग वास्तवमें हमारे पुत्र नहीं हो; साक्षात् प्रधान पुरुषेश्वर हो। पृथ्वीके भार स्वरूप क्षत्रिय राजाओंका विनाश करनेके लिये तुम आविर्भूत हुए हो। तुमने ही तो जन्मके समय ऐसा कहा है।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

श्रीमद्भागवतमें माधुर्यभाव

(वर्ष ११ संख्या १२ पृष्ठ २०१ से आगे)

व्रज-विभूषण यशोदोत्सङ्गलालित रासेश श्रीकृष्ण एवं वृषभानु-नन्दिनी रासेश्वरी राधारानी के पावन चरणारविन्दोंके समाश्रयसे पवित्रीकृत व्रजभूमिकी रजका कण-कण मधुरातिमधुर है। वैष्णवोंका परम धन है। उनके ललाट-पट्टका शोभाकारी तिलक है।

जहाँ श्यामाश्यामके कर-स्पर्शसे विभासित व्रजके हरित सुहावने, लुभावने, मनभावने, विटप-वृन्द सौभाग्य-मुकुटसे अलंकृत होकर स्थित हैं। लहलहाती पुष्पित लताएँ पुष्प वर्षाकर धन्य होना चाहती है। सुकोमल तृणसमूह श्रीकृष्णके मृदुल चरण सरोरुहोंको मस्तकपर धारण करनेको अति उत्सुक हो रहा है।

पक्षि-निनादित सरस सरोवर, सघन वन-उपवन नीरभरी नीरज सुवासित कलकल निनादिनी सरिताएँ अनुराग रंगमें रञ्जित हो रही है। शीतल-मन्द-सुरभित समीर अपनी मदभरी चालसे इतस्ततः घूम रहा है और सभीको आमोदमें भर रहा है।

पशु-पक्षी इतर जीव मधुर प्रेमासवका पान करनेके हेतु आगे बढ़ रहे हैं।

व्रजजन मधुर आकर्षक व्रजेन्द्रनन्दनकी मोहिनी रूपछटापर उल्लसित हैं, विभोर है।

मधुर भावकी साकार प्रतिकृति मोहनकी अनन्य उपासिका व्रजललनाएँ श्रीकृष्णके मधुर

मिलनके लिये अधीर हैं। दिशा-विदिशाओंसे मधुरता की अपूर्वरस धारा प्रवाहित हो रही है। माधुर्यभाव गोपियोंके परम पुनीत संयोगसे परिपुष्ट होकर व्रज का अलौकिक शृङ्गार बन रहा है।

क्योंकि चिन्मय रसस्वरूपा गोप-बालाओंने अपना कुल, शील, मान, अभिमान, धन, रत्न, जीवन, यौवन, शरीर, गृह सभी प्राणेशके पादपद्मोंमें समर्पण कर दिया है। मानों युगों-युगोंसे बिछुड़ी गोपियोंकी अन्तरात्माएँ प्रियतमके साथ संयोग (मिलन) के लिये विकल हो रही है। यह मिलन अपूर्व है। निखिल संसारकी तृप्तिका कारण है। समग्र सृष्टिको आनन्द मग्न करनेका रसभरा परम स्थान है।

देवगण और देवाङ्गनाएँ इस प्रेम मिलनका दर्शन करनेको नभ मण्डलमें परिव्याप्त हो रहे हैं; सृष्टि यज्ञका यह महान रूप है। 'रसो वै सः' श्रुति मन्त्रके प्रतिपाद्य स्वयं-भगवान् और उनकी स्वरूप-शक्तिका तथा स्वरूप - शक्तिके आनुगत्यमें विशुद्ध जीवात्माओंका परमात्मासे रसस्यपूर्ण मिलन है।

रसिक नटनागर श्रीकृष्ण इसके सञ्चालक हैं। योगमाया मुरलीकी गूँजती हुई ध्वनि ही शब्ददीक्षा है। जो व्रजरमणियोंके अन्तरमें सजग होकर उनके अन्तरतम भावोंका उदय कराती है। उसीके सहारे वे कोटि मन्मथ लावण्य श्यामसुन्दरके पास पहुँचती है। और रमण (रास) लीलामें तन्मयावस्था प्राप्त करती हैं।

माधुर्यभावकी इस रासलीलाका विषयासक्त पामर जीव न श्रवणका अधिकारी है, न आस्वादन का ही। इस अलौकिकभाव राज्यमें निःसाधन दीनातिदीन निखिल दोष - रहित परमपूत विरले साधक ही प्रवेश ले सकते हैं।

उसी माधुर्यभावका परम पुनीत प्रसङ्ग आज भागवत प्रणेता भगवान् वेदव्यासके शब्दोंमें आपके समक्ष प्रकट किया जा रहा है, जो गोपनीय है, रहस्यमय है। जिसे श्रीकृष्णकी रासलीलाके रूपमें अङ्कित किया गया है।

आपने पढ़ा होगा, चीर हरणके प्रसङ्गमें यमुना तटपर भगवान श्रीकृष्णने श्रीमुखसे गोपियोंको कहा था कि शरद ऋतुकी सुखद रात्रियोंमें मैं तुम्हारी कामनाएँ पूरी करूँगा। तुम्हारे सभी मनोरथ सिद्ध होंगे। वह सुहावना समय आ पहुँचा है। रात्रिका समय हो गया है, स्थावर-जङ्गम सभी निःशब्द है। ऐसे समय व्रज-रमण व्रजके एक मधुरतम भागमें पहुँचकर अपना आसन जमाते हैं। वृन्दावनको विहारका आनन्द देते हैं—

भगवानपि तारात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(भा. १०।२९।१)

वे पूर्व निर्धारित शरद ऋतुकी रमणीय रात्रियाँ आ गई और फूली हुई मल्लिकाके कुसुम अपनी मधुर सुवाससे सभोके मनको मोहित करने लगे। ऐसे मनोरम समयको देखकर भगवान योगेश्वरने योगमायाको अङ्गीकार करके विहार करने की इच्छा की।

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्
प्रियः प्रियाया इव दीर्घ दर्शनः ॥
दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
रमाननाभं नवकुंकुमारुणम् ।
वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितम्॥
जगौ कलं वामदृशां मनोहरम् ॥
(भ. १०।२९।२,३)

प्रवासी नायक जैसे प्रवाससे घर आकर अपनी प्रियाके मुखमें कुंकुमराग लगाकर उसके तापको हरता है। वैसे ही पूर्णचन्द्रमा अपनी सुख शान्तिमय किरणोंके द्वारा लालिमासे पूर्व दिशाका मुख रञ्जन करते हुए आकाशमें समुदित हुआ; जिनके हृदय कमल सूर्य तापसे मुरझा गये थे। उन्हें चन्द्रमा के शीतल प्रकाशने प्रफुल्लित किया। उनके तापको शान्त किया।

गगन मण्डल पर लक्ष्मीदेवीके मुख - मण्डलके सदृश शोभाधाम एवं नवीन कुंकुम रागके सदृश अरुण वर्ण चन्द्रमा पूर्ण प्रकाशमान है। उसकी कोमल किरणोंसे वृन्दावन रञ्जित हो रहा है। ऐसा देखकर श्रीकृष्णने अपनी योगमाया बांसुरीके द्वारा व्रजललनाओंके मनको हरण करनेवाले मधुर गीतका आयोजन किया।

निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनम्
व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।
आजग्मुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः
स यत्र कान्तो जवलोलकुण्डलाः ॥
(भा. १०।२९।४)

कृष्णचन्द्रने जिनके मनोंको हरण कर लिया है, वे व्रज नारियाँ कामोद्दीपक मुरलीका गान सुनते ही जहाँ रसमय कान्त हैं वहाँ अपने चलनेकी भावनाको किसीको भी न कह कर अलग - अलग रूपसे चल पड़ीं; वेगसे चलनेके कारण उनके कानों से हिलते हुए कुण्डल मुखकी शोभा बढ़ाने लगे।

बांसुरीकी ध्वनिको सुनकर उन्होंने सारे घरके काम छोड़ दिये और वे अपने प्यारेके पास चलीं; इसका बड़ा ही सजीव वर्णन है।

कोई गोपी गायका दूध दुह रही थी। वह श्रीकृष्णके आह्वानको सुन कर उसे जहाँ-का-तहाँ छोड़ कर भाग छूटी। कोई चूल्हे पर चढ़े दूधको बिना उतारे ही, कोई गेहूँका हलुवा चूल्हे पर छोड़ कर चलदी, कोई-कोई रसोईमें परिवारके लोगोंको भोजन करा रही थी, कोई बालकोंको दूध पिला रही थी, कोई पतियोंकी सेवा कर रही थी, कोई भोजन कर रही थी। वे सब अपना काम छोड़ कर कृष्णके समीप चल पड़ीं। कोई अपने शरीरमें उबटन कर रही थी, कोई चन्दन और अङ्ग-राग लगा रही थी, कोई अञ्जनसे नयनोंका रञ्जन कर रही थी। वे सब अपना-अपना शृङ्गार अपूर्ण ही छोड़ कर जैसे-तैसे उलटे-सीधे वस्त्र और आभूषणों को पहन कर तुरन्त कृष्णके निकट चलीं। उनको उनके पिता, माता, पति, भाई और बन्धुओंने बड़े प्रयत्न करके रोका; परन्तु गोविन्दने उनके मनोंको हरण कर लिया था। अतः कोई भी लौटाने पर न लौटी।

जो गोपियाँ घरके भीतर ही रह गईं, बाहर न निकल सकीं, उन्होंने आँखें मूँद कर अपने प्रियतम स्वामी कृष्णका ध्यान किया। चित्त तो पहले ही उनमें निमग्न था, अब श्रीकृष्णके आह्वान को सुन कर भी न जा सकनेके कारण उनके प्राण व्याकुल हो गये। दुःसह विरह सन्तापमें उनके सारे पाप-पुण्य नष्ट हो गये और मन ही मन प्रियतम श्रीकृष्णके ध्यान और आलिङ्गन करनेके सुख-सम्भोगसे उनके कर्मोंका आत्यन्तिक क्षय हो गया। यद्यपि गोपियोंने जार बुद्धिसे ही कृष्णमें मन लगाया था तथापि सुख-दुःखका उक्त रीतिसे भोग कर वे कर्म बन्धनसे मुक्त हो गुणमय शरीरको छोड़ कर परमात्मा कृष्णकी नित्य लीलामें प्रविष्ट ही गयीं।

इस पर परीक्षित जैसे महा भागवतको शङ्का हो गई उन्होंने शुक मुनिसे प्रश्न कर ही लिया—

कृष्णं विदुः पर कान्तं न तु ब्रह्मतयामुने ।
गुण प्रवाहो परमस्तासां गुणधियां कथम् ॥

(भा० १०। २९।१२)

हे ब्रह्मन् गोपियाँ तो कृष्णको अपना कान्त मानती थीं; उनका कृष्णमें ब्रह्म भाव नहीं था। तब उनको कैसे संसार (जन्म-मरण) से मुक्ति मिल गई; क्योंकि उनकी बुद्धि तो मायाके गुणोंमें आसक्त थी।

शुक मुनिकी आत्मा इस प्रकारके प्रश्नसे विकल हो गई। उनकी भावना-क्षेत्रमें ठेस लगी और अज्ञान पूर्ण किये गये प्रश्नका उत्तर उन्होंने कुछ आवेश भरे शब्दोंमें दिया—

उक्तं पुरस्तादेतत्ते चैद्यः सिद्धिं यथागतः ।
द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियाः ॥
नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।
अव्ययस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥
कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च ।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत् एतद् विमुच्यते ॥

(श्रीमद्भा. १०।२९।१३से१६)

हे राजन् मैं आपसे पहले ही कह चुका हूँ कि "हरिसे शत्रुता करके भी शिशुपाल मुक्त हो गया" तब हृषीकेश कृष्णकी प्रिया गोपियोंके मुक्त होनेमें क्या आश्चर्य है ?"

भगवान् श्रीकृष्ण यद्यपि अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण, और गुणोंके नियन्ता हैं, तथापि अपने अनुचरों, भक्तोंके मङ्गलके लिये समय-समय पर आविर्भूत होते रहते हैं।

कामसे, क्रोधसे, भयसे, स्नेहसे, किसी सम्बन्ध या भक्तिसे किसी भी प्रकारसे जिनका चित्त अच्युतमें लवलीन है, वे अवश्य तन्मय हो जाते हैं। अतः योगेश्वरोंके ईश्वर अजन्मा भगवान कृष्णके विषयमें तुमको ऐसा सन्देह नहीं करना चाहिये कृष्णके अनुग्रहसे जगतका परम कल्याण हो सकता है।

(क्रमशः)

वागरोदी—कृष्णचन्द्र शास्त्री, साहित्यरत्न

जीवका स्वरूप और स्वधर्म

लब्ध्वेह मानुषीं योनिं ज्ञान विज्ञान संभवाम् ।
आत्मानं यो न बुध्येत क्वचिन्न शममाप्नुयात् ॥

आत्माको बिना जाने मनुष्य कोई भी कर्म क्यों न करे कभी भी सुख नहीं पा सकता। यह बात पृथक है कि सूर्य तापसे तपी हुई बालूमें जलका भान होने पर सन्तोष हो जाय कि चलो उस स्थान पर पहुँचते ही पिपासा पीड़ित हम लोग तृप्त हो जायगे, परन्तु वहाँ पहुँचनेपर तो पहलेसे भी ज्यादा तृषा तथा तृप्त बालूसे महान् कष्ट भोगना पड़ता है। आत्म ज्ञानके बिना संसारके सभी सुख मृगतृष्णाके समान ही दुख देने वाले होते हैं।

अब विचारणीय विषय है कि आत्माका ज्ञान किस प्रकार हो जिससे हम चिर अभीष्ट सुखको प्राप्त करें। मैं शब्दका वाच्य जो कोई भी है वह सुख चाहता है अथवा यों समझिये कि संसारके समस्त प्राणी सुखकी इच्छा रखते हैं। सुखी होऊँ, मुझे दुख कभी न हो, यह जीवमात्रकी अर्थात् कीटानुकीटसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सब ही की सब कालोंमें सुख तथा आनन्दकी अभिलाषा रहती है। भावकी पृथकता रहने पर भी इससे किसी प्रकारका ननुनच नहीं है कि कोई सुख न चाहता हो, परन्तु जब तक अपने स्वरूपका ज्ञान न हो तब तक अपने प्रयोजन अर्थात् स्वसुखका ही ज्ञान कैसे हो सकता है। इसी से देह तथा इन्द्रियोंको 'मैं' शब्द वाच्य मान कर अर्थात् मूलमें ही अत्यन्त भूल करके सुख प्राप्तिके लिये अनेक चेष्टाएँ करने पर भी वास्तविक सुख नहीं मिलता। यदि देह आदि ही 'मैं' का वाच्य होते तो उनको सुख पहुँचानेसे ही हमारा अभीष्ट सुख मिल गया होता। यदि इनसे अतिरिक्त कोई अन्य 'मैं' का वाच्य है तो आत्माके पहचाननेके मूलमें ही भूल है। तब तो अनन्तकाल अर्थात् अनेक जन्म भी इन देह इन्द्रियों को सुख पहुँचानेकी चेष्टा करते हुए भी 'मैं' का वास्तविक सुख तथा प्रसन्नता कभी भी सम्भव नहीं हो सकती। इस बातको कौन स्वीकार नहीं करेगा, जैसे भूत-पिशाचका आवेश जिस व्यक्ति पर रहता है वह उत्तम-उत्तम पदार्थोंको खाकर भी उदास भूखा-भूखा ही चिल्लाता है। क्योंकि उसकी खानेकी वस्तु उसको तृप्त करने के लिये दिये जाने पर भी दूसरे अर्थात् उस पर आविष्ट भूत आदि के लिये ही पुष्टि प्रदान करने वाली होती है। वह व्यक्ति सदा कृश और क्षुधार्त ही रहता है। इसी प्रकार 'मैं' अर्थात् आत्माके निर्णय करनेके मूलमें ही यदि भूल हो तो अपने सुखके लिये किया हुआ कर्म सदा ही दूसरे के प्रयोजनके लिये ही सिद्ध होगा। अपने लिए कोई लाभ नहीं होगा। 'मैं कौन हूँ' इसको बिना जाने अपने सुखके लिए जो कुछ भी क्यों न करें, सब भूल ही होगी। मूलमें भूल रहनेसे फल भी भूल ही निकलता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई व्यक्ति गणितका सवाल करता है और उसमें पहले ही एक अङ्कको भूल रह जाती है तो अन्य सब अङ्क ठीक रहने पर भी फल भूल ही में परिणत होता। है। इसी प्रकार आत्माके परिचयके बिना जीवन के समस्त कार्य महाभूलमें ही पर्यवसित होंगे। जीवन रूप अंक गणितके मूलमें इस एक ही भूल के रहनेसे जीवनके हिसाबके निकालनेमें व्यर्थता नदीके किनारे खड़े होकर जीवको कितनी बार

रोना पड़ा है इसकी कोई इयत्ता नहीं हो सकती। जब तक उस भूलका संशोधन नहीं होता तब तक बार-बार इसी प्रकार रोना पड़ेगा। आत्माके विषयमें कुछ कहना,सुनना,मनन और चिन्तन करना वास्तविक सुखको देने वाले हैं। अतः इस विषय पर कुछ अवश्य लिखना पढ़ना चाहिये। आजके युगमें इसकी विशेष आवश्यकता भी है। 'स्वल्प-मप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्' इस धर्मका किञ्चिन्मात्र स्मरण भी बड़े-बड़े भयोंसे बचाने वाला है। केनोपनिषदमें भी लिखा है:—

'इह चेदवदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदी-न्महती विनष्टिः। भुतेषुभूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति।'

शास्त्रोंके विचार द्वारा ज्ञान प्राप्तिके योग्य मनुष्य देह पाकर जिसने आत्माका ज्ञान प्राप्त कर लिया है वही सत्य अर्थात् अनश्वर फलस्वरूप परम आनन्दको प्राप्त करता है। और जिसने आत्मा को नहीं पहिचाना उसकी बड़ी हानि होती है। अर्थात् संसार रूप नरकमें ही अनेक दुःखोंको भोगता रहता है। इन समस्त वाक्योंके द्वारा आत्माका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य देहधारीका परम कर्तव्य सिद्ध होता है। आत्माके विषयमें न्यायशास्त्र कहता है—

"ज्ञानाधिकरणं आत्मा। सच द्विविधः
जीवात्मा परमात्मा च।"

इसी प्रकार मुण्डकोपनिषदमें दो आत्माओंका प्रसंग आया है—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान
वृक्ष परिषस्व जाते।"
तयोरेकः पिप्पलं स्वादु अत्ति,
अनश्नन् अन्योभिचाकशीति॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नः अनीशया
शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीश अस्य
महिमानमिति नेह शोकः॥

इसका अर्थ है कि दो पक्षी एक ही देह रूपी वृक्ष पर सखा भावसे रहते हैं। उनमेंसे एक उस वृक्षके स्वादिष्ट फलोंको प्रीतिसे खाता है और दूसरा फलोंको न खाकर बैठा हुआ केवल प्रकाशमान रहता है। इस प्रकार एक ही शरीर रूपी वृक्ष पर दोनों रहते हैं, परन्तु उनमेंसे एक अर्थात् जीवात्मा उसके कर्मरूप फलको भोगता हुआ अत्यन्त आसक्त हो जाता है और दूसरा परमात्मा उस पर रहता हुआ भी कमलके पत्तेके समान अनासक्त रहता है। अतएव फल भोगने वाला जीवात्मा मोहमें पड़कर अनेक प्रकारकी चिन्ताओंसे ग्रस्त होकर सोचता रहता है कि 'मेरा यह कार्य नष्ट हो गया' 'यह बड़ा ही अनर्थ उपस्थित हो गया है आदि आदि। जब यह जीव अपनेसे भिन्न, उसी वृक्ष पर बैठे हुए परमात्माको देखता है तब शोकसे रहित होकर सुखको प्राप्त करता है।

इस प्रकार दो आत्मा अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा वेदमें कहे हैं। उनके विषयमें शास्त्रानुसार आगेके अंकोंमें विवेचन करूँगा। (क्रमशः)

—पं रामप्रसाद गौतम शास्त्री

गुरुपूर्णिमा या व्यासपूजा

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके सभी शाखा मठोंमें गत १७ आषाढ़को आषाढ़ी पूर्णिमाके दिन श्रील सनातन गोस्वामीचरणका तिरोभाव-महोत्सव बड़े धूम-धामसे सम्पन्न हुआ है । उस दिन सर्वत्र ही श्रील सनातन गोस्वामीके अप्राकृत जीवन-चरित्र और उनकी शिक्षाओंके सम्बन्धमें विशदरूपसे आलोचना की गई है ।

व्रज भरमें विशेषकर श्रीधाम वृन्दावन, मथुरा, नन्दगाँव, गोकुल, गोवर्द्धन आदि स्थानोंमें बड़े समारोहपूर्वक यह उत्सव सम्पन्न हुआ है ।

आषाढ़ी पूर्णिमाको गुरु-पूर्णिमा भी कहते हैं । इस दिन साधारणतः श्रीव्यास-पूजा या गुरु पूजा होती है । कहा जाता है कि श्रीव्यासजी आषाढ़ी पूर्णिमाको ही आविर्भूत हुए थे । इसका शास्त्रीय प्रमाण कुछ भी हो, किन्तु निर्णयसिन्धुमें केवल—"अत्रैव व्यासपूजा" इतना ही लिखा है ।

उक्त दिवस इस वर्ष मथुरामें कृष्णगङ्गा स्थित एक चबूतरेके पास नगरके कुछ साहित्यकारोंने धूमधामसे व्यास जयन्तीका आयोजन किया था जो उत्तर प्रदेशके एक मन्त्री, माननीय श्रीजगन प्रसाद रावतकी अध्यक्षतामें सम्पन्न हुआ ।

कतिपय व्यक्ति उक्त स्थलको श्रीव्यासदेवका जन्म-स्थल तथा श्रीव्यासदेवके द्वारा रचित समस्त ग्रन्थोंका रचना - स्थल सिद्ध करनेके पक्षमें हैं । परन्तु निर्भरयोग्य शास्त्रीय प्रमाणोंके अभावमें ऐसा निर्द्धारित कर देना अनुचित हैं । कोई भी बात ऐसी दृढ़ होनी चाहिए—दृढ़ शास्त्र प्रमाणोंपर प्रतिष्ठित होनी चाहिये जिसका कि देशके विद्वान् और शास्त्र मर्मज्ञजन स्वागत करें—उपहास न करें । स्थानीय 'व्रजदीप' साप्ताहिकके बुधवार, १४जूनको प्रकाशित अंकमें इस महोत्सवके स्थलका उपहास किया गया है ।

उक्त समारोहमें हमारे सहकारी सम्पादक विद्यावाचस्पति वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी, पुरातेतिहास-धर्मशास्त्र-सांख्य-आचार्य एम. ए. साहित्यरत्न उपस्थित थे । उन्होंने तो वहीं पर यह विषय प्रस्तुत किया था कि श्रीव्यासदेवका नाम बादरायण भी था । 'बदरिकाश्रम' (श्रीबद्रीनाथके समीप) में अथवा सरस्वती नदीके किनारे 'व्यासवन' और 'व्यास स्थाल' (कुरुक्षेत्रके पास) से श्रीव्यासदेवका सम्बन्ध प्रसिद्ध ही है । अतः उनके विषयमें सम्यक प्रकारसे शोध करके ही कुछ कहना उचित है । यों तो श्रीव्यासदेवका स्मारक सर्वत्र ही बनाया जा सकता है और वह जगत् कल्याणका कार्य है, विशेषकर यदि वह मथुरामें हो तो हम सभी उसका स्वागत करते हैं ।

—सम्पादक

श्रीचैतन्य-शिक्षामृत

(पंचम वृष्टि द्वितीय-धारा)

भावुक-लक्षण

जिस व्यक्तिके हृदयमें भाव प्रकाशित हो जाता है, उस भावुकमें जो सब लक्षण प्रकटित होते हैं, उनमेंसे ये निम्नलिखित नौ लक्षण प्रधान हैं (क)–

(१) क्षान्ति (सहनशीलता) (२) समयको व्यर्थ न खोना, (३) विरक्ति (वैराग्य) (४) मानशून्यता, (५) आशाबन्ध, (६) समुत्कण्ठा, (७) नामकीर्तनमें सदा रुचि, (८) कृष्णके गुणगानमें आशक्ति और (९) श्रीकृष्णके वासस्थलमें प्रीति।

(१) क्षान्ति—क्षोभका कारण उपस्थित होने पर भी क्षुब्ध न होनेको क्षान्ति कहते हैं(ख)। भावुक का चित्त कभी भी क्षुब्ध नहीं होता है। कोई शत्रुता करे, किसी आत्मीय-स्वजनको कोई क्लेश हो अथवा उनकी मृत्यु हो जाय, धन-सम्पत्ति नष्ट हो जाय या किसी प्रकारका कोई सांसारिक कलह या पीड़ा उपस्थित हो जाय, तौभी भाव-भक्तका चित्त भगवानके चरणकमलोंमें लगा रहनेके कारण क्षुब्ध नहीं होता। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, आशा और शोक आदि ही चित्तको प्रधानरूप से क्षुब्ध करनेवाले हैं।

(२) समयको व्यर्थ न खोना—भावुक भक्त सब समय व्याकुलताके साथ सभी कार्योंमें भावद्वारा भगवदनुशीलन किया करते हैं। उनका एक क्षण भी व्यर्थ नहीं जाता—वे सर्वदा कृष्णानुशीलन ही करते रहते हैं। जब जो कार्य उपस्थित होता है, तब उस कार्यके उपयोगी भगवल्लीलाका स्मरण करते हुए उस कार्यको करते समय श्रीकृष्णके भावोंका उद्दीपन करते हैं। वे सभी कर्मोंको भगवत्सेवाके रूपसे किया करते हैं। (ग)

(क) क्षान्तिरव्यर्थ कालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता। आशाबन्धः समुत्कंठा नामगाने सदा रुचिः॥
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले। इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जाते भावांकुरे जने॥
(भ० र० पू० ३)

(ख) क्षोभहेतावपि प्राप्ते क्षान्तिरक्षुभितात्मता। (भ० र० सि०)

(ग) वाग्भिस्तुवन्तो मनसा स्मरन्तस्तन्वा नमन्तोऽप्यनिशं न तृप्ताः।
भक्ताः श्रवन्नेत्रजलाः समग्रमायुर्हरेरेव समर्पयन्ति॥ (ह० भ० सु०)

(३) विरक्ति—इन्द्रियोंकी विषयोंके प्रति स्वाभाविक अरुचि होनेको विरक्ति कहते हैं। (घ) भाव उदित होने पर विरक्ति प्रबल हो उठती है। जिनके हृदयमें भाव उदित हो जाता है, उनकी विषयोंसे अरुचि हो जाती है। परन्तु वे इन्द्रियोंके विषय-समूह भगवत सम्बन्धी हों तो उनके प्रति उनकी प्रचुर मात्रामें प्रीति लक्षित होती है। विरक्त या वैरागी बाबाजी नामक एक श्रेणीके लोग दिखलायी पड़ते हैं, वे लोग भेष धारण कर अपनेको विरक्त समझते हैं। परन्तु अपनेको विरक्त मान लेनेसे ही वे यथार्थ ही विरक्त हैं, ऐसी बात नहीं। भावके उदय होने पर स्वाभाविक रूपमें इन्द्रियार्थके प्रति विरक्ति पैदा हो जाती है। परन्तु भावके उदित न होनेसे यदि स्वाभाविकरूपमें इन्द्रियार्थके प्रति विरक्ति उपस्थित न हो जाय, तो भेक (विरक्त - वेष) ग्रहण करना अवैध है। भेकका अर्थ यह है कि जब विरक्ति उदित होती है, तब सबके लिये संसार सुविधाजनक नहीं होता। जिन लोगोंके लिये जीवनोपयोगी वस्तुओंका पूर्ववत संग्रह करना भजनके अनुकूल नहीं होता, वे अपने अभावको कम करके छोटा वस्त्र, गुदड़ी करंग आदि व्यवहार करते हुए भिक्षा द्वारा श्रीमहाप्रसाद सेवन करते हैं (क)। धीरे-धीरे ऐसा व्यवहार ही उनके लिये स्वाभाविक हो पड़ता है—उनको तनिक भी कष्टकर नहीं प्रतीत होता है। यह परिवर्तन जिस समय श्रीगुरुदेवके निकट अधिकार विचारपूर्वक सर्वशास्त्र - सम्मतके रूपमें निर्दिष्ट होता है, उसी समय यथार्थ भेक हुआ करता है। परन्तु आधुनिक भेक-प्रथाने अत्यन्त अमङ्गलजनक रूप ग्रहण कर लिया है। अधिकांश लोग

(घ) विरक्तिरिन्द्रियार्थानां स्यादरोचकता स्वयम्। (भक्तिरसामृतसिन्धु)

यो दुस्त्यजान् दार सुतान् सुहृद्राज्यं हृदिस्पृश। जहौ युवैव मलवदुत्तमः श्लोकलालसः॥ (भा० ५।१४।४३)

(क) विमृयाच्चेन्मुनिर्वासं कौपीनाच्छादनं परम्। त्यक्तं न दण्डपात्राभ्यामन्यत् किञ्चिदनापदि॥

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्। सत्यपूतां वदेद् वाचं मनः पूतं समाचरेत्॥

एकश्चरेन्महीमेतां निःसङ्गः संयतेन्द्रियः। आत्मक्रीड आत्मरत आत्मवान् समदर्शनः॥

अन्वीक्षेतात्मनो बन्धं-मोक्षं च ज्ञान ज्ञाननिष्ठया। बन्ध इन्द्रियविक्षेपो मोक्ष एषाञ्च संयमः॥

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा यद्भक्तो वानपेक्षकः। सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधि गोचरः॥

नोद्विजेत जनाद् धीरो जनं चोद्वेजयेन्न तु। अतिवादांस्तितिक्षेत् नावमन्येत् कञ्चन॥

देहमुद्दिश्य पशुवद्वैरं कुर्यान्न केनचित्। अलब्ध्वा न विषीदेत काले कालेऽशनं क्वचित्।

लब्ध्वा न हृष्येत्प्रतिमानुभयं दैवतन्त्रितम्॥

आहारार्थं समीहेत युक्तं तत् प्राणधारणम्। तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय विमुच्यते॥

यदृच्छयोपपन्नामश्चाच्छ्रेष्ठमुतापरम्। तथा वासस्तथा शय्यां प्राप्तं प्राप्तं भजेन्मुनिः॥

(भा० ११।१८।१५-३५)

यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः। ज्ञानवैराग्यरहितस्त्रिदण्डमुपजीवति॥ (भा. ११।१८।४०)

भावोदय होनेकी तो बात ही क्या, साधारणरूपमें वैधी भक्तिके प्रति निष्ठा तक भी प्राप्त करनेके पहले ही क्षणिक वैराग्यके आवेशमें अथवा यथेच्छाचारपूर्वक जीविकोपार्जनकी सुविधाके लिये भेक ग्रहण कर लेते हैं।

स्त्री-पुरुषके कलहके कारण, नानाविध सांसारिक क्लेशोसे तङ्ग आकर, विवाह न होनेसे, वेश्या आदिका व्यवसाय नष्ट होने पर, किसी मादक द्रव्यके सेवनसे या किसी दूसरे प्रकारसे बुद्धिमें विकार पैदा होनेपर तात्कालिक या क्षणिक वैराग्य उदित हो जाता है। ऐसे वैराग्यको क्षणिक वैराग्य कहते हैं। इस क्षणिक वैराग्यवश कोई व्यक्ति किसी गोस्वामी या बाबाजीके पास पहुँचकर उन्हें कुछ धन देकर कौपीन और बहिर्वास ग्रहणकर लेते हैं। इसका फल यह होता है कि थोड़े ही दिनोंमें उनके वैराग्यका ज्वार उतर जाता है और वे स्त्री या पुरुष इन्द्रियोंके वशीभूत होकर किसी प्रकार अवैध-स्त्री-पुरुषका संसार कर लेते हैं अथवा छिप-छिपकर व्यभिचारमें लिप्त हो पड़ते हैं। उनका परमार्थसे लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहता। ऐसी अवैध भेक की प्रथाको सम्पूर्ण रूपसे उच्छेद नहीं करनेसे वैष्णव जगतका किसी प्रकार भी कल्याण होना असंभव है। पहले वर्णाश्रमधर्मका विचार-प्रसंगमें अवैध वैराग्यको जगन्नाशके कार्य—पाप बतलाया गया है। वह अवैध वैराग्य वर्णाश्रमधर्मगत संन्यासाश्रमाश्रित पापकार्य है। यहाँ पर जिस वैराग्यका विचार किया गया है, यह भक्तजीवनगत महदपराधविशेष है। श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीकृत 'सत्क्रियासार दीपिका' नामक ग्रन्थके परिशिष्ट-भागमें इस विषयका सुन्दर विचार पाया जाता है।

जो लोग अपनेको 'वैरागी' या वैष्णव बतला कर अपना परिचय देते हैं, उनमें से खूब कम लोगों में भक्तिद्वारा उदित स्वाभाविक वैराग्य होता है। हम ऐसे निर्मल विरक्त पुरुषोंके चरणोंमें सदैव दण्डवत - प्रणाम करते हैं। अवैध वैरागियोंको साधारणतः चार श्रेणियोंमें विभक्त किया जा सकता है—

(१) मर्कट - वैरागी, (२) कपट वैरागी, (३) अस्थिर वैरागी, और (४) औपाधिक वैरागी।

(१) मर्कट - वैरागी—वैराग्य न होने पर भी वैरागियोंकी भाँति वेश धारणकर भ्रमण करनेकी अभिलाषा करते हैं। किन्तु अवशीभूत इन्द्रियोंद्वारा सदैव अनर्थ उपस्थित होते रहते हैं। इस प्रकार जो लोग केवल वैराग्य चिह्न भर धारण करते हैं, उनको श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने मर्कट वैरागी कहा है।

(३) कपट-वैरागी—महोत्सव आदिमें वैष्णवोंके साथ अच्छे-अच्छे सुस्वादु पदार्थ भोजनके लिये सहज ही सुलभ होंगे। अभी जितना भी बुरा कर्म क्यों न करूँ, मरने पर वैष्णव लोग मेरा सत्कार करेंगे जिससे मेरी सद्गति हो जायगी, गृही लोग आदर पूर्वक भोजन देंगे, गाँजा, भाँग अफीम आदि वस्तुएँ भी सहज ही सुलभ हो होंगी—ऐसा सोच कर जो धूर्त लोग भेक (वैराग्य-वेष) ग्रहण करते हैं, उनको कपट वैरागी कहते हैं। (क्रमशः)